आधारात्मक वेदान्त पाठ्यक्रम
चिन्मय इंटरनेशनल फाउन्डेशन
संस्कृत भाषा के शोध एवं अन्य भारतीय भाषाओं का केन्द्र
आदि शंकर निलयम्, वेलियानाड, एर्नाकुलम –682313, केरल, भारत
फोन : +91 92077–11140, +91–484–2749676 ई मेल : vedantacourses@chinfo.org वेब : www.chinfo.org

खण्ड – 1
(8 पाठ)
पाठ 1

पाठ-1 के अन्तर्गत आने वाले चार विषय इस प्रकार हैं – स्वतन्त्रता और स्वेच्छाचार, सद्व्यवहार की कला, मानव की विरासत, जीवन का आनन्द। प्रथम पाठ को पूरा करने के लिये दो सप्ताह का समय पर्याप्त होना चाहिए। लेकिन यदि कोई विद्यार्थी शीघ्र पाठ को समाप्त करने के प्रलोभन में पड़कर इसे सरसरी तौर पर पढ़ने लग जाए, तो हो सकता है कि वह एक-दो दिन में ही पाठ को पूरा पढ़ ले। परंतु तब अध्ययन का उद्देश्य असफल हो जायेगा।

कृपया प्रत्येक प्रकरण को कम से कम दो बार पढ़ें, उस पर अपने नोट्स बनायें अथवा उसके मुख्य-मुख्य बिन्दुओं को लिख लें, जिससे कि बाद में आवश्यकता होने पर आप एक ही दृष्टि में पाठ के मुख्य विचारों को पकड़कर पाठ का पुनः स्मरण कर सकें। एक से अधिक प्रकरण को एक दिन में पूरा करने का प्रयत्न न करें। पाठ में प्रस्तुत विभिन्न विचारों एवं उनके निहितार्थ पर गम्भीरता से मनन करें जिससे कि वे पूर्ण रूप से आत्मसात हो जायें।

पाठ्यक्रम का उद्देश्य मात्र बौद्धिक समझ प्रदान करना नहीं है, बल्कि इस समझ के साथ-साथ पाठ में निहित विचारों को व्यक्तिगत रूप से आत्मसात कराना भी है। इस ज्ञान को स्वयं के जीवन में अपनाकर ही आप अपना आध्यात्मिक विकास कर सकते हैं ।

पाठ से सम्बन्धित समस्त पत्राचार एवं कागज़-पत्र इत्यादि को भली-भाँति संभालकर फाइलों में नत्थी करके रखना चाहिए।

1.1 स्वतन्त्रता और स्वेच्छाचार

मानवजाति ने अपने निवास के लिये इस जगत को एक शानदार स्थान बना लिया है। प्राकृतिक शक्तियाँ मनुष्य को प्रागैतिहासिक काल से ही डरावनी लगती रही हैं, वह उनसे सदा ही भयभीत होता रहा है। परंतु समय बीतने के साथ उनके बारे में ज्ञान बढ़ता चला गया और आज उन्हीं प्राकृतिक शक्तियों को मानवजाति की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये उपयोग में लाया जा रहा है। पहले जो भूमि जंगली और बंजर

थी, उसे भी आज भरपूर अन्न उगाने के योग्य बना दिया गया है। एक आदिम और बर्बर सभ्यता से उन्नति करते-करते, मानवजाति एक बुद्धिमान और सभ्य समाज का दर्जा प्राप्त कर चुकी है। आज के युग में लगभग स्वर्गीय सुख-सुविधाएँ उपलब्ध हैं; और मनुष्य उनके असंयमित उपभोग में लगा रहता है। तथापि यह देखा गया है कि भरपूर धन-सम्पदा और भौतिक समृद्धि के होते हुए भी लोगों के जीवन चिन्ता, व्याकुलता और असंतोष से परिपूर्ण हैं।

भारत के आध्यात्मिक गुरुजन, जिनके जीवन अनादि काल से सर्वजन हिताय ही समर्पित रहे हैं, उन्होंने जीवन की इस विडम्बना के विषय में खोज की। अपने इस सूक्ष्म अनुसन्धान में उन्होंने पाया कि अनियंत्रित एवं अत्यधिक इन्द्रिय भोगों में लिप्त होना ही मन के विक्षेपों और दुःखों का कारण है। इस प्रकार के भोग व्यक्ति को अधिक समय तक सुख नहीं देते; साथ ही ये उसके तेज को नष्ट करके अंत में उसे परेशानी में भी डालते हैं। उदाहरण के लिये यदि देखें कि हमारे भोजन की प्लेट में परोसा गया मिठाई का पहला टुकड़ा तो बहुत सुखकर लगता है किन्तु दूसरा और तीसरा भाग उतना सुखकर प्रतीत नहीं होता। आगे इसी प्रकार संख्या और अधिक बढ़ती चली जाने पर यह अरुचिकर लगने के साथ-साथ हमारे स्वास्थ्य के लिये हानिकर भी होता चला जाता है। इसलिये हमारे इन प्राचीन विचारकों ने मानव के लिये आत्मसंयम और अनुशासन के कुछ ऐसे आधारभूत नियम बनाये जिनका पालन करके व्यक्ति, इस पदार्थ अैर प्राणियों से युक्त जगत में व्यवहार करते समय, गहन और शाश्वत सुख प्राप्त कर सकता है। आगे देखते हैं कि जीवन के अनुभवों में यह सिद्धान्त किस प्रकार लागू होता है।

◈

जब व्यक्ति जगत के सम्पर्क में आता है, तो उसे अनुभव प्राप्त होते हैं। उसके इन अनुभवों में व्यक्ति तो विषय है तथा जगत उसके अनुभव की वस्तु है। आज के समय में विज्ञान और उसकी उपलब्धियों ने वस्तुजगत की उन्नति करके उसे मानव के रहने के लिये पहले से बहुत बेहतर स्थान के रूप में विकसित कर दिया है। इस प्रकार के विकास के चलते कोई भी व्यक्ति स्वाभाविक रूप से आशा करेगा कि वह पहले से अधिक सुखी हो जायेगा, लेकिन ऐसा है नहीं। इसके विपरीत मानव आज पहले से भी अधिक दुःखी और जीवन से असंतुष्ट दिखाई देता है। इस विरोधाभास का प्रमुख कारण मानव का इन्द्रिय भोगों में सतत लिप्त रहना है।

मानव के पास पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं जो नेत्र, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वक् के नाम से जानी जाती हैं। इन्हें विषय ग्रहण के अंग भी कहते हैं। स्वाभाविक रूप से ही इनकी प्रवृत्ति अपने-अपने विषयों में विचरण करने की होती है। इसके अलावा यह भी सत्य है कि जगत के विषय होते ही इतने अधिक प्रलोभनकारी हैं कि व्यक्ति बड़ी आसानी से इन इन्द्रिय भोगों के प्रलोभन में पड़ जाता है।

विषयासक्ति का शिकार बनना तो पहला कदम है। अगला कदम है, इन्द्रिय भोगों में रमण करने से प्राप्त सुखों के कारण एक प्रकार के मद (नशे) का उत्पन्न होना। उसके बाद तो बड़ी तेजी से व्यक्ति का पतन होना शुरु हो जाता है। दिन-प्रतिदिन भोगों की लालसा बढ़ती ही जाती है, जब तक कि व्यक्ति की शक्ति, स्वास्थ्य इत्यादि सब कुछ नष्ट नहीं हो जाते। यह उच्छृंखल सुख है।

◈

फिर भी, मानव का स्वभाव तो निरपेक्ष स्वतन्त्रता ही है। कोई भी व्यक्ति अपने ऊपर लगाये जाने वाले किसी भी बन्धन का प्रतिरोध करता है, और उसे यह बिल्कुल भी अच्छा नहीं लगता कि कोई उसे यह बताये कि उसे क्या करना चाहिए और क्या नहीं। वह किसी भी निषेधाज्ञा के विरुद्ध प्रबल विद्रोह करता है और इन्द्रिय संयम का निर्देश करने वाली प्रत्येक आध्यात्मिक साधना को गलत ठहराते हुए, उसका जमकर विरोध करता है। वह इस बात को नहीं समझता है कि विवेकपूर्ण आत्मसंयम और अनुशासन ही स्वतन्त्रतारूपी भवन की आधारशिला हैं। उदाहरण के लिये सड़क पर चलने की स्वतन्त्रता भी यातायात नियंत्रक बत्तियों का अनुशासन मानने पर ही निर्भर होती है। यदि इस नियम का पालन न किया जाए, तो व्यक्तियों और वाहनों के चलने पर कोई नियन्त्रण ही नहीं रहेगा और इसके कारण चारों ओर आपाधापी और संभ्रम की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी। इस प्रकार से देखते हैं कि पर्याप्त नियमों एवं निर्देशों के अभाव में स्वतन्त्रता अर्थहीन हो जाती है और वह पतित होकर उच्छृंखलता (स्वेच्छाचार) बन जाती है।

◈

अनियन्त्रित विषयभोगों के विपरीत, यदि अत्यधिक आत्मतुष्टि का जीवन जीना छोड़कर, अनुशासित तरीके से भोग किया जाए, तो व्यक्ति इन्द्रियों के विषयों से संयोगजन्य सुख का आनन्द भी उठा सकता है। यह तभी संभव है जबकि व्यक्ति अपने सभी कर्मों पर बुद्धिमत्तापूर्ण नियंत्रण रखे। केवल इस प्रकार का अनुशासन ही व्यक्ति के आनन्द को आकर्षण और महत्ता प्रदान करता है। इसके बिना व्यक्ति अपनी भोग करने की सीमा का अतिक्रमण कर जाता है, यहाँ तक कि अंत में इन्द्रियों का विषयों से संयोग भी केवल यांत्रिक ही बनकर रह जाता है और उसके द्वारा रत्तीभर भी सुख की प्राप्ति नहीं होती। यदि उसके बाद भी विषयों में आसक्ति बनी रहती है, तो यह व्यक्ति के स्वास्थ्य को नष्ट करके उसकी समस्त शक्ति और तेज का हरण कर लेती है, जिसके परिणामस्वरूप कष्ट और शोक प्राप्त होते हैं। मिठाई के उदाहरण के द्वारा यह तथ्य स्पष्ट किया जा चुका है।

धर्म इस दुर्भाग्यपूर्ण अंत की ओर संकेत करके मानव को चेतावनी देता है कि वह अपने जीवन को प्रारम्भ से ही नियमित और अनुशासित रखे जिससे कि जीवन इन्द्रियों का शिकार बनकर नीरसतापूर्ण न बनने पाये वरन् आनन्द से परिपूर्ण बना रहे। इस मित्रतापूर्ण चेतावनी को न समझते हुए व्यक्ति प्रायः भ्रमित होकर यह समझ लेता है कि धर्म तो व्यक्ति की स्वतन्त्रता और आनन्द में बाधा डालता है। इस भ्रान्त धारणा ने बहुत से लोगों में धर्म के प्रति विरुचि उत्पन्न कर दी है।

हमारे धर्मगुरुओं ने लोगों के लिये समुचित अनुपात में आत्मसंयम के मार्गनिर्देश प्रस्तुत किये हैं, जिससे कि जगत में अपने गलत व्यवहार के कारण व्यक्ति के व्यक्तित्व का पतन न होने पाये। वरन् पूर्णता एवं आनन्द के मार्ग पर आगे बढ़ने के लिये स्वस्थ और ऊर्जावान बना रहे।

◈

अब यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो चुकी है कि आधुनिक पीढ़ी की धर्म विमुखता का प्रमुख कारण उनके द्वारा स्वतन्त्रता एवं स्वेच्छाचार के बीच का अंतर न समझना ही है। हमारे धर्मग्रन्थ व्यक्ति को आत्मपरक वैज्ञानिक विश्लेषण के ऐसे साधन उपलब्ध कराते हैं, जिनसे कि व्यक्ति स्वैच्छिक आत्मसंयम की आवश्यकता को अपने विवेक से समझ सकता है, उसको सराह सकता है। इस प्रकार से हम देखते हैं कि धर्मग्रन्थों के मार्गदर्शन का भी वही प्रयोजन है जो कि किसी मशीन को कुशलतापूर्वक चलाने के लिये उसकी सेवापुस्तिका का होता है। मानव मशीन सबसे अधिक जटिल है इसीलिये जगत के साथ कुशलतापूर्वक व्यवहार करने और स्वस्थ सम्बन्ध बनाने के लिये धर्मग्रन्थों में निर्धारित किए गए सूक्ष्म समायोजन करके कुछ संगत बैठाने की भी आवश्यकता पड़ती है। इन निर्देशों का अनुपालन करने से व्यक्ति को तृप्ति एवं आनन्द की प्राप्ति होती है और मूर्खतापूर्वक इनकी अवहेलना करने से तो व्यक्ति कठिनाइयों एवं दुःखों को ही न्यौता देता है।

इस प्रकार से जानकारियाँ तो उपलब्ध हैं, लेकिन इनमें से व्यक्ति अपने लिये कौन-सा विकल्प चुनता है, इसके लिये वह स्वयं ही उत्तरदायी है। हमें स्वयं चुनना है कि हम अपना जीवन अच्छा बनायें अथवा इसे बिगाड़ दें। इसका श्रेय अथवा दोष किसी दूसरे के सिर मढ़ना ठीक नहीं है।

आध्यात्मिक ग्रन्थ हमारे सम्मुख श्रेष्ठ जीवनशैली की विस्तृत वैज्ञानिक विधि प्रस्तुत करते हैं, तथा एक परिपक्व बुद्धि उनमें आत्मविकास की एक सम्पूर्ण तकनीक पाती है जो व्यक्ति को परम सत्य की अपरोक्षानुभूति तक पहुँचाने वाली होती है। प्राचीन काल से ही इस प्रकार के ग्रन्थों ने मानव समाज को एक समृद्ध एवं गौरवशाली समाज के रूप में ढालने का काम किया था। इस विधि का सौन्दर्य यह है कि यह एक प्रयोग की हुई एवं परीक्षित विधि है। आधुनिक पीढ़ी के लिये यह अच्छी बात होगी कि वह अपनी ही उन्नति एवं लाभ के लिये शास्त्रों की इस विधि का अन्वेषण करे।

◈

समस्त जीवित प्राणियों में से केवल मनुष्य जाति को ही कर्म करने में विकल्प उपलब्ध हैं, अन्य सब प्राणी तो पहले से चली आ रही परम्परानुसार ही जीवन जीते हैं। उनके पास अपनी प्रकृति के विपरीत जाकर कार्य करने का विकल्प नहीं है।

शेर मांसाहारी होता है, इसलिये उसे अपने भोजन के लिये शिकार करके प्राणियों को मारना ही पड़ेगा। वह अपने स्वाभाविक शिकार हरिण की भाँति कंद, मूल, फल पर गुजारा नहीं कर सकता और न ही वह घास चर सकता है। जिस प्रकार से शेर शाकाहारी नहीं हो सकता उसी प्रकार गाय मांसाहारी नहीं होती। प्रकृति की व्यवस्था बिल्कुल स्पष्ट है। अग्नि जलेगी और गर्म होगी। पानी द्रव है और गीला होगा, आप इससे सूखा और निश्चल होने की अपेक्षा नहीं कर सकते।

तथापि मानव को यह स्वतन्त्रता और सामर्थ्य है कि वह अपने इच्छित विकल्प के अनुसार जीवन जी सके। इसलिये उसे तो अपने लिये सही मार्ग चुनने में और भी अधिक सावधानी बरतने की आवश्यकता है। जीवन में उन्नति एवं समृद्धि के संकेत-सूचक, धर्म के द्वारा ही प्रदान किये जाते हैं।

◈

1.2 सद्व्यवहार की कला

किसी देश के नागरिक कानून अपने नागरिकों की स्वतन्त्रता की रक्षा करते हैं, परंतु साथ ही स्वेच्छाचार पर उन्हें दण्डित भी करते हैं। कानून इसीलिये बनाये जाते हैं कि लोग अपने कर्मों में असावधानी और गैरज़िम्मेदारी न बरतें। ठीक इसी प्रकार शास्त्र भी जीवन के लिये आचार संहिता प्रस्तुत करते हैं, जो लोगों को बाह्य जगत से उचित सम्पर्क विकसित करने और फिर उस सम्पर्क को ठीक से बनाये रखने की योग्यता प्रदान करती है। इस आचार संहिता को विवेकपूर्वक समझकर इसका श्रद्धापूर्ण अनुपालन एक स्वस्थ दृष्टिकोण तथा गतिशील, ऊर्जावान जीवन की अभिव्यक्ति करेगा। इस तथ्य को हमारे दैनिक जीवन के एक उदाहरण से भलीभांति स्पष्ट किया जा सकता है। विद्युत उपभोक्ता अपने घरों में किसी भी प्रकार से विद्युत का उपयोग करने के लिये स्वतन्त्र हैं, परंतु विद्युत की शक्ति से लाभान्वित होने के लिये उन्हें इसके साथ उचित सम्बन्ध बनाये रखना होगा। इस प्रकार का सम्बन्ध तभी बना रह सकता है जब कि विद्युत के नियमों का पूरी तरह पालन किया जाए। यदि इन नियमों को तोड़ा गया, तो जो विद्युत मानव के लिये वरदान स्वरूप है, उसी विद्युत का करंट मनुष्य को विनष्ट भी कर देगा।

लोगों की एक सामान्य शिकायत यही है कि यह संसार पाप से और अनेक दोषों से भरा हुआ है और उन्हें पल-पल कठिनाइयों और चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। वे डरे-सहमे से रहते हैं। वे प्रश्न करते हैं कि ऐसी भ्रामक परिस्थिति में कोई व्यक्ति कैसे शांत और प्रसन्न रह सकता है? उनकी इस आर्त पुकार के उत्तर में धार्मिक आचार्य सदा यही स्पष्ट करते आये हैं कि शांति और तृप्ति कहीं बाह्य जगत

में स्थित नहीं हैं, अपितु बाह्य जगत में व्यवहार करने की सही कला अपनाने से यह शांति और तृप्ति अपने स्वयं के हृदय से ही प्रकट होती हैं।

संसार की परेशानियाँ और संकट तो व्यक्ति के लिये एक प्रकार से छिपे रूप में वरदान जैसे हैं, क्योंकि व्यवहार की सही पद्धति अपनायी जाए, तो ये सब संकट उसके व्यक्तित्व को निखार कर उसे पूर्णता प्रदान करने में सहायक ही सिद्ध होते हैं। यह नियम है कि किसी कुंद औजार पर धार लगाने के लिये एक खुरदुरी सतह चाहिए। उदाहरण के लिये देखते हैं कि औजारों पर धार बनाने के लिये सान के पत्थर की खुरदुरी सतह उपयोग करते हैं, परंतु इसके लिये व्यक्ति को उसे प्रयोग करने की कला का ज्ञान होना भी आवश्यक है। इसी प्रकार यदि व्यक्ति को जीवन में व्यवहार करने की सही कला का ज्ञान हो, तो इस संसार की अशांति भी उसके व्यक्तित्व को निखारने का काम करती है। इसलिये संसार की दुष्टता अथवा जीवन की बाधाएँ कोई समस्या नहीं हैं। समस्या तो चुनौतियाँ आने पर उनका डटकर सामना करने की व्यक्ति की स्वयं की अक्षमता और उस चुनौती को उन्नति के अवसर में बदल देने की उसकी अयोग्यता है।

◈

प्रकृति को शासित करने वाले कुछ नियम होते हैं और यदि व्यक्ति प्रकृति के साथ शांति और सामंजस्य के साथ रहना चाहता है, तो उसे इन नियमों का पालन करना ही होगा। परंतु यदि व्यक्ति इन नियमों की अवहेलना करने की ठान लेता है और उनका पालन नहीं करता, तो सारा तालमेल बिगड़ जायेगा जिससे दुःख और कष्ट उत्पन्न होंगे। भौतिक जगत के साथ व्यवहार करते हुए शांतिपूर्ण और लाभदायक सह-अस्तित्व बनाये रखने के सिद्धान्त को विद्युत के उदाहरण के द्वारा अच्छी प्रकार से समझा जा सकता है।

जगत तो सबके लिये एक ही होता है, परंतु यहाँ पर विभिन्न लोग अपनी-अपनी मानसिक और बौद्धिक संरचनाओं के आधार पर विभिन्न प्रकार से अपनी-अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करते हैं। धार्मिक शास्त्र व्यक्ति का मानसिक एवं बौद्धिक स्तर विकसित कर देते हैं, फलस्वरूप वह संसार में सभी वस्तुओं और प्राणियों के साथ समुचित सम्बन्ध बनाने में सक्षम हो जाता है। वास्तव में यह एक कला है, जो धीरे-धीरे अपने व्यक्तिगत प्रयासों के द्वारा विकसित की जाती है। यदि यह न किया जाए और संसार में त्रुटिपूर्ण सम्बन्ध बनाए रखे जाएं, तो व्यक्ति को यही शिकायत रहेगी कि यह दुनिया तो बहुत ही खराब है! निःसन्देह यह संसार अच्छे-बुरे का सम्मिश्रण है, परंतु व्यक्ति अपने विवेक का समुचित प्रयोग करके इसी संसार में सर्वाधिक सुख प्राप्त कर सकता है। जीवन जीने की इस सुंदर कला की तुलना उस व्यक्ति की निपुणता से की गयी है, जिसने खुरदुरे पत्थर पर चाकू की धार तेज करने की कला में दक्षता प्राप्त कर ली है। परंतु जिसे इस कला का ज्ञान न हो, वह तो चाकू की धार को पहले से भी अधिक कुंद कर देगा!

◈

इस सरल सी बात के महत्त्व को न समझ पाने के कारण जीवन का सही परिप्रेक्ष्य ही नष्ट हो गया है और लोग सदैव यही शिकायत करते पाये जाते हैं कि बहुत ही बुरा समय आ गया है, दुनिया बहुत बिगड़ गयी है। वास्तव में देखा जाये तो दुनिया का दोष नहीं है, परंतु जिसकी समझ इस प्रकार की है उसकी अपनी

आंतरिक प्रकृति ही त्रुटिपूर्ण कही जायेगी। इसकी तुलना हम दूध से आधे भरे गिलास से कर सकते हैं, जो विभिन्न व्यक्तियों को उनकी भिन्न-भिन्न मानसिक और बौद्धिक संरचनाओं के अनुसार अलग-अलग तरह का दिखता है। कोई व्यक्ति उसके ऊपर वाले आधे खाली भाग को देखकर शिकायत करता है कि यह पूरा भरा हुआ नहीं है; अन्य कोई उसकी तली में दूध देखता है और सीधे-सीधे उसका आनन्द लेता है।

◈

दूध के आधे भरे हुए गिलास के उदाहरण में हम देखते हैं कि संसार कभी भी परिपूर्ण नहीं हो सकता। इसमें गुण और दोष दोनों ही हैं। निराशावादी व्यक्ति जीवन के नकारात्मक पक्ष (गिलास के आधे खाली भाग) को देखते हैं और चिंताग्रस्त रहते हैं, जबकि आशावादी लोग सकारात्मक पक्ष (आधा भरा हुआ गिलास) देखते हैं और सुखी रहते हैं। व्यक्ति के पास जो कुछ भी है उसके लिये ईश्वर के प्रति कृतज्ञ होना सीखना चाहिए; इस प्रकार का स्वभाव व्यक्ति को मानसिक प्रशांति प्रदान करता है। व्यक्ति का मन जब प्रशांत होता है, तो उसके अंग-प्रत्यंग सजग रहते हैं और उसके कर्म अत्यंत प्रभावशाली बन जाते हैं, लेकिन अप्राप्त वस्तुओं की कामना से विक्षेपित मन तो केवल शांति ही नहीं, बल्कि एकाग्रता और जगत में अपनी कार्यकुशलता भी खो बैठता है।

◈

इसी प्रकार जीवन में भी त्रुटिपूर्ण मानसिक दृष्टिकोण के कारण उत्पन्न होने वाली, विवेकहीन शोकग्रस्त लोगों की पंक्तियां बढ़ती ही चली जा रही हैं। व्हील-चेअर में बैठा हुआ एक पंगु व्यक्ति, दो स्वस्थ पैरों वाले व्यक्ति को अपने पास से पैदल आगे निकलते देखकर निराशा का अनुभव करता है, किन्तु वही पैदल चलने वाला व्यक्ति अपने पास से तेज़ी से आगे जाती मोटर साइकिल पर बैठे व्यक्ति को देखकर निःश्वास छोड़ता है, मोटर साइकिल वाला कार के मालिक से ईर्ष्या करता है, जबकि कार वाला इस चिन्ता में रहता है कि उसे कितने सारे टैक्स भरने हैं और उसे ज़रा भी शांति नहीं मिलती! वस्तुतः मानव के दुःख इसी प्रकार के हैं, किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति को निराश होने की आवश्यकता नहीं है। इस समस्या का समाधान हमारे धर्मग्रन्थों में बड़े स्पष्ट रूप से बताया दिया गया है।

इन स्वप्रदत्त मानसिक तनावों से मुक्त होने का पहला कदम है – भगवान ने हमें इतना कुछ दिया है, जो अन्य कम भाग्यशाली लोगों को नहीं मिल पाया है, उस सबके लिये अपने अन्दर भगवान के प्रति

कृतज्ञ होने का भाव विकसित करना। दूसरा कदम है कि व्यक्ति और अधिक पाने की लालसा में बिल्कुल न पड़े। जब इस प्रकार का श्रद्धायुक्त कृतज्ञता का भाव बना रहेगा, तो चित्त की शांति और मन का समत्व भाव भी बना रहना निश्चित है, और केवल इसी स्थिति में व्यक्ति सही प्रकार से कर्म करने और संसार में शांति और समृद्धि लाने में सक्षम हो पाता है। इसी विचार को एक प्राचीन कहावत में भली प्रकार से व्यक्त किया गया है – ''मुझे अपने पास जूते न होने का दुःख तभी तक था जब तक कि मैं एक ऐसे व्यक्ति से नहीं मिला जिसके पैर ही नहीं थे।''

1.3 मानव की विरासत

स्वतन्त्रता तो मानव जीवन का मूल तत्त्व ही है। एक ऐसा व्यक्ति जो छोटे-मोटे सुख पाने के लिये, विषय जगत के ऊपर गुलामों की तरह निर्भर रहने के स्वभाव से अपने को मुक्त कर चुका है, वही वास्तव में स्वतन्त्र है। वह ऐसा गौरवपूर्ण जीवन जीता है जिसकी अभिलाषा सभी को होती है। अन्य लोग तो ग्रीष्म ऋतु की हवाओं में उड़ते हुए पत्तों की तरह होते हैं, जो जीवन की समस्याओं और संसार की चुनौतियों के द्वारा इधर से उधर भटकते रहते हैं। संसार के विषय तो व्यक्ति को सताने वाले होते हैं जो उसकी विषय-भोग की भूख को और अधिक उत्तेजित करने का काम करते हैं। ज्ञानेन्द्रियों का स्वभाव ही है कि वे अपने भोग के विषयों तथा उनके द्वारा प्राप्त होने वाले सुखों की मिथ्या चमक से आकर्षित होकर उनकी ओर बेरोक-टोक खिंची चली जाती हैं। लेकिन मनुष्य की यह क्षमता है और उसे यह विशेषाधिकार प्राप्त है कि वह इन्द्रियों के इस भीषण आक्रमण का प्रतिरोध कर सके और उससे अप्रभावित रह सके। ऐसे लोग जीवन रूपी समुद्र में उठने वाली कामना रूपी उपद्रवी लहरों के आक्रमण का सामना करते हुए एक प्रकाश स्तम्भ की भाँति गौरव के साथ अडिग रहकर उनसे अप्रभावित बने रहते हैं। परंतु अन्य लोग जो कि इन्द्रियों के आकर्षण के शिकार बन गये, वे समुद्र में नाविक विहीन थपेड़े खाती नाव की भाँति, अपनी ही कामनाओं के द्वारा बड़ी निर्दयतापूर्वक ऊपर-नीचे फेंके जाते रहते हैं।

जीवन की चुनौतियों का सामना करते समय व्यक्ति भ्रमित हो जाता है और वह यह निर्णय नहीं ले पाता कि कौन-सा कदम उचित रहेगा। निश्चित रूप से मानव दिव्य है लेकिन वह अपने हृदयस्थ परमात्मा की वाणी तभी सुन सकता है, जबकि उसके हृदय में 'मुझे चाहिए' और 'मुझे दो' के राग की चीख-पुकार और कोलाहल शांत हों। मानवता के इस भ्रमित कर देने वाले अथाह समुद्र में खो से गये, लोगों के लिये धर्मशास्त्र, नाविक के दिग्दर्शक यन्त्र के समान हैं और केवल वही हैं जो हमें मार्ग दिखाते हुए आनन्द और शांति के सुरक्षित बंदरगाह तक पहुँचा सकते हैं। और जैसे कि एक नाविक दिग्दर्शक यन्त्र की शुद्धता पर विश्वास करते हुए उसके अनुसार मार्ग अपनाता है, उसी प्रकार हमें भी शास्त्रों में बताये गये एवं हमें पूर्णता

की स्थिति की ओर बढ़ाने में सहायक हमारे आध्यात्मिक मार्गदर्शक गुरुदेव के द्वारा दिखाये गये मार्ग का श्रद्धा एवं भक्तिपूर्वक अनुसरण करना चाहिए।

◈

वेदांत में संसार की तुलना प्रायः समुद्र से की जाती है। समुद्र की सतह असंख्य प्रकार की लहरों से मिलकर बनी होती है, जो कि सदैव ऊपर उठती और नीचे गिरती रहती हैं। यद्यपि समुद्र की सतह तो सदा ही उद्वेलित और अशांत दिखाई देती है तथापि गहराई में देखें, तो समुद्र एक शांत विशाल जलराशि है जो सतह के उपद्रवों से नितांत अप्रभावित है। ठीक इसी प्रकार से यदि जगत को भी हम सतही तौर से देखें तो विभिन्न प्रकार के पदार्थ और प्राणी दिखाई देते हैं जो कि सदैव परिवर्तित होते रहते हैं और निरंतर जन्म और मृत्यु के चक्र में पड़े रहते हैं। लेकिन इन सब परिवर्तनशील वस्तुओं के पीछे, इन सबका अपरिवर्तनशील अधिष्ठान है, जो इन सबको धारण करने वाला सर्वव्यापी सत्य तत्त्व है।

आज के समय में लोग अधिकतर वस्तुओं और प्राणियों के इस परिवर्तनशील दृश्यमान जगत में लीन रहते हुए, सतही जीवन ही जीते हैं। व्यक्ति यदि इस जगत के परिवर्तनशील पक्ष से तादात्म्य रखता है, तो वह मात्र एक सीमित प्राणी बनकर ही रह जाता है, जो कभी तो हर्षित होता है और कभी शोकग्रस्त! परंतु यदि व्यक्ति एकरस, सर्वव्यापी, सत्य तत्त्व से तादात्म्य कर लेता है तो हर्ष-शोक की उठती-गिरती लहरों से ऊपर उठ जाता है तथा शाश्वत शांति और परमानंद में रमण करता है।

आज के युग में एक व्यक्ति के इस आधुनिक जगत से सम्बन्ध की उपमा उस नाव से दी जा सकती है जो बीच समुद्र में बेसहारा छोड़ दी गयी हो। उस बेसहारा नाव की भाँति ही व्यक्ति भी जगत के परिवर्तनों के द्वारा इधर-उधर पटका जाता हुआ दुःखी होता रहता है। केवल धर्मशास्त्र ही व्यक्ति के वर्तमान विक्षेपों एवं शोक से परिपूर्ण जीवन को उचित मार्ग दिखाते हुए, शांति एवं आनन्द से परिपूर्ण एक सार्थक जीवन की ओर ले जाने में सक्षम हैं।

◈

एक पूर्ण पुरुष जो इस प्रकार अपनी परिस्थितियों पर विजय प्राप्त कर चुका होता है, वह इस परिवर्तनशील संसार के उतार-चढ़ाव से अप्रभावित रहते हुए सदैव शांत बना रहता है। ऐसे व्यक्तियों को प्रायः लोग गलती से एक बेजान मूर्ति के समान भावना विहीन भी समझ लेते हैं, जिसे चाहे मालाएँ पहनायी जायें अथवा उस पर ईंट-पत्थर फेंके जायें, उसे कोई फ़र्क नहीं पड़ता। अक्सर लोग उन पर संसार की बातों के प्रति अरुचि एवं उदासीनता बरतने का आक्षेप भी करते हैं। परंतु उनके आलोचक उनकी महान उपलब्धि, आंतरिक शक्ति और उनके मन की निर्मलता से अनभिज्ञ होते हैं। यह सत्य नहीं है कि ऐसे व्यक्ति भावनाओं अथवा संवेदनाओं से रहित होते हैं; निश्चय ही उनमें ये सब होती हैं लेकिन वे अपनी भावनाओं और संवेदनाओं को अपने पर हावी नहीं होने देते। दूसरे शब्दों में कहें तो वे भावनाओं से परास्त नहीं होते। प्रेम अथवा सहानुभूति की भावना होना तो एक गुण है। निश्चय ही व्यक्ति में भावनाएँ तो होनी ही चाहिए लेकिन वह भावुक बनकर न रह जाए क्योंकि भावुकता व्यक्ति के जीवन के संतुलन और उसके आत्मविश्वास को विनष्ट कर देती है

तथा उसके भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही प्रकार के विकास में अवरोध उत्पन्न करती है। भावनाएँ व्यक्ति की शोभा बढ़ाती हैं, परंतु भावुकता तो व्यक्ति के व्यक्तित्व पर धब्बा है!

भारत के प्राचीन ऋषि-मुनि आत्मबल के बहुत धनी थे, जो जीवन के उतार-चढ़ावों के बीच ज़रा-सा भी प्रभावित हुए बिना पर्वतराज हिमालय की भाँति अविचल होकर स्थित रहते थे। उनके हृदय अपने साथ के व्यक्तियों के कष्टों के प्रति करुणा एवं संवेदना से परिपूर्ण रहते थे, लेकिन उनके मस्तिष्क की सोच संसार के व्यथित करने वाले शोरगुल से बहुत ऊपर के स्तर पर स्थित होती थी। आंतरिक रूप से उनका तादात्म्य निरंतर परम सत्य के साथ ही रहता था।

◈

एक मनुष्य – शरीर, मन, बुद्धि एवं चेतन तत्त्व (जो कि इन सब जड़ उपकरणों को चेतन बनाता है) का समूह होता है। भौतिक शरीर और इन्द्रियाँ विषयग्रहण और कर्म के क्षेत्र में रहते हैं। मन भावनाओं में और बुद्धि विचार एवं चिन्तन के क्षेत्र में रहती है। धर्म आपको शरीर एवं इन्द्रियों का उपयोग करके विषयग्रहण और कर्म करने की अनुमति तो देता है, परंतु साथ ही आपको सावधान भी करता है कि आप विषयों की आसक्ति अथवा अपने कर्मों के बन्धन में न पड़ने पायें। इसी प्रकार से आपको भावनाओं का एहसास रखने की अनुमति तो है परंतु उन भावनाओं से अभिभूत होने से बचना चाहिए। बुद्धि के स्तर पर भी आपके अपने विचार या सिद्धान्त हो सकते हैं, परंतु उनको लेकर आपमें कट्टरता नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार यदि आप विषयग्रहण, भावना और विचारों के प्रभाव से असम्बद्ध बने रहते हैं, तो आप अपने जीवन में वास्तव में स्वतन्त्र हैं। इस प्रकार से जीवन जीते हुए पूर्णता की स्थिति तक पहुँचना 'मानव की विरासत' है।

◈

1.4 जीवन का आनन्द

मनुष्य की समस्त क्रियाएँ दो मनोवेगों से प्रेरित होती हैंः दुःख से द्वेष और सुख से राग! मनुष्य अपने को अरुचिकर लगने वाली वस्तुओं एवं प्रतिकूल परिस्थितियों को छोड़कर उनसे दूर रहना चाहते हैं तथा रुचिकर एवं अनुकूल से प्रेम करते हैं। लेकिन हम देखते हैं कि वस्तुएँ और परिस्थितियाँ निरंतर बदलती रहती हैं, ऐसे में सुख की तलाश करना एक निरर्थक प्रयास बन कर रह जाता है। सुख प्राप्ति के लिये विभिन्न व्यक्तियों द्वारा अपनाये जाने वाले तरीके विभिन्न और विशिष्ट हो सकते हैं, लेकिन उन सब तरीकों का उद्देश्य तो एक समान ही होता है।

जब मनुष्य के समस्त प्रयासों का उद्देश्य सुख की प्राप्ति है, तो सबसे पहले यह महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि यह खोजा जाए कि वास्तव में सुख कहाँ पर स्थित है? वर्तमान समय में, सामान्यतः लोगों में यह अत्यंत दृढ़ विश्वास बैठा हुआ है कि इन्द्रियों को अनुभव में आने वाला सुख, इन्द्रियों के विषयों में विद्यमान

होता है। इस मिथ्या धारणा का अनुसरण करते हुए लोग संसार में अधिक से अधिक सम्पत्ति और दुनिया भर की वस्तुओं की प्राप्ति, परिग्रह और विवर्धन के लिये निरंतर प्रयासरत रहते हैं। इनमें से बहुत से लोग बहुत अधिक धन-सम्पदा एकत्रित करने में सफलता प्राप्त भी कर लेते हैं, लेकिन फिर उन्हें यह देखकर बड़ी निराशा होती है कि उनकी सम्पत्ति के बढ़ने के साथ उनके सुख में कोई वृद्धि नहीं हुई है! लेकिन जो लोग केवल धन-सम्पत्ति के उपार्जन में ही फँसे न रहकर सरलता और ईमानदारी का जीवन जीते हैं, वे कहीं अधिक सुखी और संतुष्ट दिखाई देते हैं। ये जीवन के मर्मभेदी विरोधाभास हैं। जरा विचार करें कि एक अरबपति अपने महल जैसे घर में बैठा हुआ भी उदास है और दूसरी ओर एक अत्यंत गरीब किसान फटे कपड़े पहने हुए अपनी छोटी-सी कुटिया में गीत गा रहा है और आनन्द में मग्न होकर नाच रहा है। अर्थात धन-सम्पत्ति किसी भी प्रकार से सुख का मापदण्ड नहीं है। धन के द्वारा इच्छित वस्तुएँ तो खरीदी जा सकती हैं, लेकिन इन इन्द्रिय विषयों में सुख निहित नहीं है। यदि इनमें सुख निहित होता, तो इनके सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति को समान मात्रा में सुख प्राप्त होता, किन्तु यह तो सत्य से बहुत दूर की बात है। उदाहरणतः एक सिगार किसी एक व्यक्ति में तो सुख एवं तृप्ति का भाव जगाता है, परंतु किसी दूसरे व्यक्ति को वही सिगार अत्यंत घृणास्पद लग सकता है।

◈

मनुष्य के सारे प्रयासों का उद्देश्य निरपेक्ष सुख की प्राप्ति है। व्यक्ति अधिक से अधिक सुख प्राप्त करने के लिये अपने – शरीर, मन और बुद्धि – तीनों उपकरणों का प्रयोग करता है। दुनिया का सबसे अधिक सुखी व्यक्ति भी और अधिक संतुष्टि एवं तृप्ति पाने के लिये अपने तरीके से निरंतर प्रयासरत रहता है। सुख के लिये प्रयास दो प्रकार से किये जाते हैं – पहला तो है दुःखों को दूर करना और दूसरा है सकारात्मक रूप से सुख का अनुभव करना।

◈

यदि विषयों में सुख नहीं प्राप्त होगा, तो हम उसे कहाँ ढूंढे? यह जिज्ञासा हमें इस मूल प्रश्न की ओर ले जाती है कि सुख क्या है? ऐसे ही प्रश्नों के आधार पर हमारे प्राचीन ऋषियों ने मानव व्यक्तित्व पर गहन वैज्ञानिक अनुसंधान किया। अपनी खोज में उन्होंने पाया कि विषय-वस्तुओं की प्राप्ति का सुख से कुछ लेना-देना नहीं है। सुख तो वास्तव में हमारी मानसिक स्थिति विशेष है। हमारी मानसिक स्थिति का हमारे अनुभव में आने वाले सुख-दुःख से बिल्कुल स्पष्ट सम्बन्ध होता है। जब मन विक्षेपित होता है तो दुःख अनुभव होता है और जब मन शांत होता है तो सुख अनुभव में आता है। इस प्रकार से किसी व्यक्ति के सुख का मापदण्ड उसके मन की शांति का स्तर ही होता है। वास्तव में सुख आत्मपरक वस्तु है।

कभी-कभी इन्द्रिय विषयों से संयोग होने पर भी मन शांत हो जाता है परंतु इस प्रकार की शांति अल्पकालिक होती है। स्थायी और सच्ची संतुष्टि अथवा सुख कभी भी इन्द्रिय भोगों के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। इस बात को न जानते हुए और इन्द्रिय विषयों को सुख का स्रोत समझते हुए, व्यक्ति व्यर्थ में ही इनके पीछे भागता फिरता है। आध्यात्मिक गुरु दृढ़तापूर्वक कहते आये हैं कि मनुष्य सृष्टि के समस्त प्राणियों का सिरमौर है; उसे बिना किसी वस्तु अथवा प्राणी पर आश्रित हुए ही अपने मन को शांत करके अन्दर की वास्तविक शांति में रमण कर सकने की अद्‌भुत क्षमता प्राप्त है। यह क्षमता सभी मनुष्यों में होती है परंतु यह अव्यक्त अवस्था में रहती है और इससे अनभिज्ञ होने के कारण ही हम लोग इन्द्रिय विषयों के द्वारा सुख पाने के मूर्खतापूर्ण प्रयासों में लगे रहते हैं, जबकि इन विषयों में सुख की केवल झूठी चमक ही होती है।

◈

हम लोग सुख कहाँ पर खोजते हैं? अज्ञानवश हम यह समझते हैं कि सुख का वास जगत के विषयों में है। इसलिये हम उनके पीछे भागते हैं, उनका संग्रह करते हैं और उनका भोग करने में लगे रहते हैं। यह धारणा हमें इसलिये भी सत्य लगती है क्योंकि अपनी काम्य वस्तु से संयोग होने पर हमें सुख की अनुभूति होती ही है।

अब एक उदाहरण के द्वारा हम इस भासित सुख का विश्लेषण करते हैं। एक व्यक्ति जो बिना किसी अंतराल के निरंतर धूम्रपान करता है, उसे प्रत्येक सिगरेट के द्वारा सुख प्राप्त होता है। इस बात से तो यह निष्कर्ष निकलता है कि सिगरेट के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से सुख उत्पन्न होता है। परंतु यदि यह बात सत्य होती तो प्रत्येक सिगरेट से बराबर मात्रा में सुख प्राप्त होना चाहिए। लेकिन देखते हैं कि ऐसा तो होता नहीं है, क्योंकि, यदि उस व्यक्ति को एक-दो सप्ताह तक सिगरेट पीने पर लगी रोक के बाद एक सिगरेट पीने को मिलती है, तो वह सिगरेट उस व्यक्ति के अन्दर पहले से भी कहीं अधिक सुख की अनुभूति उत्पन्न करती है। इसलिये सिद्ध होता है कि सुख किसी वस्तु विशेष में नहीं होता है, अपितु व्यक्ति की मनःस्थिति पर निर्भर करता है। मानो एक व्यक्ति को साधारण रूप से हर पाँच मिनट में सिगरेट पीने की इच्छा उत्तेजित (मन को विक्षेपित) कर देती है और जब वह एक सिगरेट पी लेता है तो धूम्रपान की इच्छा पूरी हो जाने के कारण मन के विक्षेप शांत हो जाते हैं – हालाँकि यह शांति अस्थायी होती है। मानसिक विक्षेपों के शांत हो जाने को ही धूम्रपान का आदी व्यक्ति सुख की अनुभूति समझ लेता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जब उस व्यक्ति को एक सप्ताह तक सिगरेट पीने को नहीं मिलती है, तो उसके अन्दर धूम्रपान की इच्छा और अधिक बलवती होती जाती है जिससे उसका मन और अधिक विक्षेपित होता जाता है। लेकिन एक सप्ताह के संयम के बाद जैसे ही वह पहली सिगरेट पीता है, तो तुरंत उसके मन के विक्षेप शांत हो जाते हैं, और इसी कारण से उसे अधिक सुख प्रतीत होता है।

सुख पूर्णतः एक आत्मपरक घटना है, जिसका अनुभव में आये विषयों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता है। कुछ मामलों में अवश्य ही विषय थोड़े समय के लिये मन की शांति उत्पन्न कर सकते हैं, परंतु यह निश्चित है कि शांत मन ही सुख उत्पन्न करता है। सौभाग्य से मानव को यह अनूठी क्षमता प्राप्त है कि वह विषय जगत पर आश्रित हुए बिना ही अपने

मन को शांत कर सकता है। इसलिये व्यक्ति के लिये बड़ी हास्यास्पद बात है कि वह परिस्थितियों का शिकार बन जाए अथवा हालात के अधीन होकर रह जाए।

◈

धर्मग्रन्थ इस सत्य का वर्णन करते हैं और व्यक्ति की इस सुप्त शक्ति को जाग्रत करने में सहायता करते हैं। एक बार यदि व्यक्ति ने मन को शांत करने की कला सीख ली, तो व्यक्ति का मन फिर सुख-शांति पाने के लिये भौतिक जगत और इसके मोहित करने वाले विषयों के पीछे भागना आवश्यक नहीं समझेगा। यही जीवन का वास्तविक आनन्द है। एक बार इस मन को शांत करने की कला का ज्ञान हो जाए तो इसके फलस्वरूप व्यक्ति शाश्वत और पूर्ण आनन्द की ऐसी अवस्था में स्थित हो जाता है, जो कि जीवन में आने वाली परिस्थितियों और वातावरण के प्रभाव से पूर्णतः स्वतन्त्र है। ऐसा व्यक्ति एक प्रकाशस्तम्भ की भाँति उन लोगों का मार्गदर्शक बन जाता है, जो लोग जीवन की समस्याओं का समाधान पाने के प्रयत्न में, अभी भी इन्द्रिय विषय रूपी दलदल में फँसे हुए अंधों की भाँति हाथ-पाँव मार रहे हैं।

◈

सुख को एक समीकरण के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है :

$$\text{सु} = \frac{\text{पू का}}{\text{स का}}$$

अर्थात् सुख की मात्रा (सु), पूर्ण हुई कामनाओं (पू का) को मन की समस्त कामनाओं (स का) से भाग देने के बाद प्राप्त होने वाली संख्या के बराबर होती है।

हम देखते हैं कि उपरोक्त समीकरण में 'अंश' (न्यूमरेटर) को बढ़ा देने पर अथवा 'हर' (डिनोमिनेटर) को घटा देने पर अथवा दोनो के समुच्चय से सुख की मात्रा बढ़ जाती है। वर्तमान में विद्यमान कामनाओं की पूर्ति, इन कामनाओं द्वारा उत्पन्न विक्षेपों को शांत कर देती है। व्यक्ति कामनाएँ कम रखे, तो उसके मन के विक्षेप भी कम होंगे। आप किसी भी तरह से देख लीजिए चाहे विक्षेपों का घटाना हो अथवा मन का शांत होना, इन दोनों ही स्थितियों में सुख उत्पन्न होता है।

यद्यपि सुख का उपरोक्त सूत्र अकाट्य है, तथापि सुख प्राप्ति के लिये इन्द्रिय भोगों पर आश्रित रहने में एक खतरा भी है कि इसके द्वारा अधिकतर और अधिक संख्या में नयी-नयी कामनाएँ भी उत्पन्न होती चली जाती हैं। कामनाओं की संख्या बढ़ने के साथ-साथ समीकरण का 'हर' बढ़ता है, फलस्वरूप सुख घटता जाता है। इसलिये शाश्वत सुख में स्थित होने का सर्वोत्तम उपाय यही है कि हमें अपने मन में स्थित कामनाओं की संख्या घटानी चाहिए; और इसके लिये हमें

अपने विचारों की दिशा को दिव्य सत् तत्व की ओर मोड़ना होगा।

◈

संदर्भ

1. जीवन ज्योति, स्वामी चिन्मयानन्द, सेन्ट्रल चिन्मय मिशन ट्रस्ट प्रकाशन, मुम्बई, भारत
2. मानव निर्माण की कला, स्वामी चिन्मयानन्द, सेन्ट्रल चिन्मय मिशन ट्रस्ट प्रकाशन, मुम्बई, भारत
3. जीवन जीने की कला, स्वामी चिन्मयानन्द, सेन्ट्रल चिन्मय मिशन ट्रस्ट प्रकाशन, मुम्बई, भारत
4. तैत्तिरीयोपनिषद् व्याख्या, स्वामी चिन्मयानन्द, सेन्ट्रल चिन्मय मिशन ट्रस्ट प्रकाशन, मुम्बई, भारत